श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

भागवत-पत्रिका

वर्ष १५ | भाद्र-आश्विन, सम्वत् २०२६ | संख्या ४-५

श्रीश्रीनित्यानन्द प्रभु और श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु

सम्पादक—त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज

कार्यालय—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, पो० (मथुरा) उ०प्र०

संस्थापक—नित्यलीलाप्रविष्ट ॐविष्णुपाद
परमहंसस्वामी १००८ श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजी

वर्त्तमान सभापति—आचार्य एवं नियामक
त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराज

प्रचार संपादक—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त पर्यटक महाराज

सहकारी सम्पादक-संघः—

१. त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त स्वामी महाराज (संघपति)
२. त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त हरिजन महाराज
३. विद्यावाचस्पति श्रीवासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी, नव्य व्याकरण, पुराण-इतिहास-धर्मशास्त्र सांख्य-आचार्य, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., पी० एच० डी०
४. पण्डित श्रीयुत केदारदत्त तत्राडी, साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार, एम. ए., पी. एच. डी.
५. डा. श्रीयुत शङ्करलाल चतुर्वेदी, साहित्यरत्न, एम. ए. , पी. एच. डी.
६. पण्डित बागरोदी श्रीकृष्णचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ
७. पण्डित श्रीयुत अच्युत गोविन्द दासाधिकारी 'साहित्यरत्न'
८. पण्डित श्रीयुत श्रीकृष्णस्वामीदास ब्रह्मचारी
९. पण्डित श्रीयुत सत्यपाल दासाधिकारी एम. ए.

कार्याध्यक्ष—त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त मुनि महाराज

वार्षिक भिक्षा ५)

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१. श्रीमद्भागवतीय श्रीकृष्णस्तोत्राणि (श्रीभीष्मदेव कृतं श्रीकृष्णस्तोत्रम्)	भगवान् श्रीश्रीमद्वेदव्यासजी	६५
२. अनर्थ और असत्सिद्धान्त-निरास	जगद्गुरु ॐविष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर	७०
३. हरि मेटो विपति हमारी (कविता)	(सूरदासजीकी पदावलीसे)	७६
४. प्रश्नोत्तर (कर्म)	जगद्गुरु ॐविष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर	७७
५. प्रेमैकनिष्ठ भक्तकी निष्ठा (श्लोक)	(श्रील रूप गोस्वामी संकलित पद्यावलीसे)	८०
६. वर्त्तमान युगमें भगवन्नामकी उपादेयता	बागरोदी श्रीकृष्णचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ	८१
७. कृपाकी कोर कीजै कृष्ण प्यारे (कविता)	श्रीरामेश्वरप्रसाद सक्सेना	८६
८. आत्मवञ्चना (प्रबन्ध)	(साप्ताहिकगौड़ीय से)	८७
९. सन्दर्भ-सार (श्रीभक्तिसन्दर्भ-३)	त्रिदंडिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज	८९
१०. श्रीश्रीकृष्ण-जयन्ती (प्रबन्ध)	श्रीहरिपद विद्यारत्न, भक्तिशास्त्री	९५
११. प्रचार-प्रसङ्ग	जनैक-सम्वाददाता	१०१

श्रीभागवत-पत्रिकाके पन्द्रहवें वर्षकी

विषय-सूची

विषय	संख्या और पत्रांक
१. अनर्थ और असत्सिद्धान्त निरास	४-५।७०
२. आचार्य-वन्दना	१०।१८९
३. आत्मवञ्चना (प्रबन्ध)	४-५।८७
४. कृपाकी कोर कीजै कृष्णप्यारे	१।१७, ४-५।८६
५. कृष्णनामकी महिमा (श्लोक)	१०।१६०
६ गोविन्द	१२।२३९
७. ग्रन्थ समालोचना	२-३।६४
८. त्रियुगका धर्म और कृष्णनाम-संकीर्त्तन	८-९।१५२
९. दीन हीन अयोग्य सेवककी क्षुद्र-पुष्पांजलि	१०।२००
१०. धर्म और नीति	१।१३
११. नित्यलीलाप्रविष्ट परमाराध्यतम १०८ श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामीके नवनिर्मित श्रीसमाधि-मन्दिरमें तदीय श्रीविग्रह प्रकटोत्सव	११।२३२
१२. परतत्त्व-विचार	१।१९,२-३।४२
१३. परमाराध्यतम श्रीश्रीलगुरुपादपद्मका प्रथम-वार्षिक विरहोत्सव	६-७।१४१
१४. पूतना-वध (कविता)	११।२३५,१२।२५१
१५. पूजा और सेवा	८-९।१८१
१६. प्रचार प्रसङ्ग	२-३।६२,४-५।१०१,६-७।१४५,८-९।१८५,१०।२०९
१७. प्रभुसे दैन्यमयी प्रार्थना (पद्य)	१।१२
१८ प्रभुप प्रार्थना (पद्य)	१।८
१९. प्रभु मोहे काहे बिसरायो (पद्य)	१।२४
२०. प्रभु राखि लेहु सरनाई (पद्य)	२-३।५२
२१ प्रेमी भक्तकी दैन्यमयी प्रार्थना (श्लोक)	१०।२०८
२२ प्रेमी भक्तकी लालसा	१०।२१२
२३. प्रेमैकनिष्ठ भक्तकी निष्ठा	४-५।८०
२४. प्रश्नोत्तर	१।९,२-३।३४,४-५।७७,६-७।११०,८-९।१६१,११।२२५,१२ २४४
२५. बहिर्मुखता और कपटता	११।२१८
२६. भजो मन ! नन्दनन्दनचरन (पद्य)	१२।२६०
२७ भाई ! कुतार्किक !	२-३।२९

विषय	संख्या और पत्रांक
२८. भक्तोंका बाह्यापेक्षा-त्याग (श्लोक)	६-७।१०९
२९. भक्तोंकी महिमा (पद्य)	१०।१९५
३०. भक्तवत्सल-भगवान् (पद्य)	११।२१७
३१. मुरलीका प्रभाव (पद्य)	१२।२४७
३२. यथार्थ गुरु कौन हैं ? (श्लोक)	१०।१९९
३३. रे मन ! अजहूँ क्यों न सम्हारै ? (पद्य)	२-३।४१
३४. रे मन ! गोविन्द नाम क्यों बिसारो ? (पद्य)	८-९।१५१
३५. वर्त्तमान युगमें भगवद्भक्ति उपादेय है	२-३।५३
३६. वर्त्तमान युगमें भगवन्नामकी उपादेयता	४-५।८१
३७. व्रज-सुषमा श्रीजमुनाजी	८-९।१६८
३८. श्रीकृष्णका गोचारण	२-३।४६
३९. श्रीगुरु-भक्ति	१०।१९६
४०. श्रीचरणकमलोंमें सकातरपूर्ण भाव-पुष्पांजलि (कविता)	१०।२०५
४१. श्रीचैतन्य-शिक्षामृत षष्ठ-वृष्टि, चतुर्थ-धारा)	८-९।१७५,१२।२५४
४२. श्रीजमुनाजीकी महिमा (कविता)	६-७।१२१
४३ श्रीधाम नवद्वीपमें श्रीरथयात्राका प्रचलन क्या श्रीरूपानुगधाराके विरुद्ध है ?	६-७।१३५
४४. श्रीपादपद्मोंमें दासाधमकी क्षुद्र-पुष्पांजलि	१०।२०४
४५. श्रीपादपद्मोंमें दीन-हीन दासाधमकी भक्तिपूर्ण-पुष्पांजलि	१०।२०६
४६. श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय गुरु-परम्परा	१०।१९१
४७. श्रीब्रह्म-माध्व गौड़ीय भागवत-परम्परा	१०।१९०
४८. श्रीमती वृषभानुनन्दिनी	६-७।११०
४९. श्रीमद्भागवतीय श्रीकृष्ण-स्तोत्रा ण१।१,२-३।२५,४-५।६५,६-७।१०५,८-९।१४९,११।२१३	१२।२३७
५०. श्रीव्यासपूजाका निमन्त्रण	६-७।१४८
५१. श्रीव्यासपूजाके अवसर पर प्रतिनिवेदन	१०।१९५
५२. श्रीविग्रह	१।५
५३. श्रीश्रीकृष्णजयन्ती	४-५।९५,६-७।१२८
५४. सन्दर्भ-सार (श्रीभक्तिसन्दर्भ २,३,४,५,६,७)	२-३।३६,४-५।८९,६-७।१२३,८-९।१६४, ११।२२९,१२।२४८
५५. हरिभजन नहीं हुआ !	१२।२५८
५६. हरि मेटो विपति हमारी (पद्य)	४-५।७६
५७ ज्ञानकी अप्रयोजनीयता (श्लोक)	८-९।१६५

• श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः •

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल बंधनकर ।

वर्ष १५ | गौराब्द ४८३, मास—पुरुषोत्तम १, वार—वासुदेव | संख्या १
रविवार, ३२ ज्येष्ठ, सम्वत् २०२६, १५ जून १९६९

श्रीमद्भागवतीय श्रीकृष्णस्तोत्राणि

श्रीकुन्तीदेवी वर्णितं श्रीकृष्णस्तोत्रम्

(श्रीमद्भागवत १।८।१८-३०)

नमस्ये पुरुषं त्वाद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम् ।
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम् ॥१८॥

जब श्रीकृष्ण द्वारका जानेके लिए तैयार हुए, तब ब्रह्मास्त्रके तेजसे मुक्त अपने पुत्रों और द्रौपदीके साथ परम साध्वी श्रीकुन्तीदेवी उनका इस प्रकारसे स्तव करने लगीं—

हे कृष्ण ! तुम वयसमें छोटे दीखने पर भी साक्षात् आदिपुरुष हो । क्योंकि तुम मायातीत तत्त्व और मायाके नियन्ता हो । अतएव तुम सभी प्राणियोंके भीतर और बाहर पूर्णस्वरूपसे अवस्थित हो । किन्तु फिर भी तुम जीवोंके जड़ेन्द्रियोंसे अतीत वस्तु हो । ऐसे तुम्हें मैं नमस्कार करती हूँ ॥१८॥

माया जवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम् ।

न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा ॥१९॥

हे वासुदेव ! तुम मायारूपी परदेके आड़ द्वारा आच्छादित हो, तुम जीवोंके जड़ेन्द्रिगम्य ज्ञानसे अतीत तथा अपरिच्छिन्न हो । तुम अच्युत और नित्य वर्त्तमान हो । अतएव भक्तिसे रहिता स्त्री होनेके कारण मैं केवल तुम्हें नमस्कार करती हूँ । जिस प्रकार गान-नृत्य-ताल आदिसे अत्यन्त आकर्षक अभिनय करनेवाले व्यक्तिको मुग्ध दर्शक पहचान नहीं पाता, उसी प्रकार तुम देहाभिमानी व्यक्तिके दृष्टिगोचर नहीं होते ॥१९॥

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।

भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ॥२०॥

आत्मा और अनात्माका विवेक रखनेवाले मननशील और विषय-रागसे निवृत्त योगीपुरुष लोग भी तुम्हारी अतुल महिमा और प्रभावके कारण तुम्हें दृष्टिगोचर नहीं कर पाते; अतएव अपने प्रति भक्ति करानेके लिए इस जगतमें अवतीर्ण तुम्हें हम जैसी स्त्रियाँ किस प्रकारसे दर्शन करनेमें समर्थ हो सकती हैं ? ॥२०॥

कृष्णाय वासुदेवाय देवकी-नन्दनाय च ।

नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥२१॥

हे कृष्ण ! सभी अवतारोंकी अपेक्षा तुम्हीं अत्यन्त सर्वश्रेष्ठ हो । इस अवतारमें तुमने अपने सम्पर्कसे बहुतोंकी प्रीति बढ़ायी है और उन्हें कृतार्थ किया है । मेरे भाई वसुदेवजी अति धन्य हैं, क्योंकि तुमने उन्हें अपने पिताके रूपमें वरण किया है । अतएव तुम वासुदेव हो । पिता वसुदेवकी अपेक्षा अधिकतर स्नेहवत्सला और धन्या माता देवकीके गर्भमें जन्म ग्रहण कर उन्हें अत्यन्त धन्या और समृद्धिशालिनी बना दिया है । अतएव तुम देवकीनन्दन कहलाते हो । इनकी अपेक्षा अत्यन्त मधुर स्नेहयुक्त गोपराज श्रीनन्द महाराज धन्य हैं, क्योंकि तुम्हारी कौमार-लीलाका माधुर्य उन्होंने पूर्ण रूपसे आस्वादन किया है । इसीलिए तुम नन्दराजकुमार कहलाते हो । नन्द महाराज की अपेक्षा अत्यन्त प्रीतिमती यशोदाजी धन्या हैं । अतएव तुम यशोदानन्दन हो । तुम्हारी कौमार-लीलाकी अपेक्षा तुम्हारी व्रजकी कैशोर-लीला अत्यन्त श्रेष्ठ है, क्योंकि तुम्हारी कैशोर-लीलामें तुम सभीके सभी इन्द्रियोंको अपनी ओर आकर्षण कर अपार आनन्दका उपभोग करते हो और कराते हो । अतएव तुम गोविन्द हो । ऐसे तुम्हें मैं बारम्बार नमस्कार करती हूँ ॥२१॥

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।

नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजांघ्रये ॥२२॥

तुम मेरी नेत्रादि इन्द्रियोंको अत्यन्त आनन्द प्रदान करते हो। तुम्हारा नाभिदेश सुन्दर कमल जैसा है। तुम्हारे गलेमें सुन्दर कमलकी माला सुशोभित हो रही है। तुम्हारे दोनों नयन कमल की तरह अत्यन्त प्रसन्न और खिले हुए हैं। तुम्हारे सारे अङ्ग कमल जैसे हैं। ऐसे तुम्हें मैं बारम्बार मैं नमस्कार करती हूँ ॥२२२

यथा हृषीकेश खलेन देवकी
कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता।
विमोचिताहंच सहात्मजा विभो
त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ॥२३॥

हे सुन्दर केशों वाले ! इन्द्रियोंके स्वामी ! तुम्हारी माता देवकी जिसे क्रूरमति कंसने बहुत काल तक कारागारमें बन्द रखा था, शोकके अत्यन्त वशीभूत हो गई थीं। तुमने कारागारसे उन्हें मुक्त कर उनका शोक दूर किया। हे सर्वव्यापी विष्णो ! उसी प्रकार तुमने मेरे पुत्र पाण्डवों के साथ मेरे रक्षक या पालकके रूपसे असंख्य विपत्तियोंसे मुझे बारम्बार मुक्त किया है ॥२३॥

विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शनादसत् सभाया वनवासकृच्छ्रतः।
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो द्रोण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः ॥२४॥

हे श्रीहरि ! तुमने हमें विषमिश्रित मोदकके द्वारा संभावित मृत्युसे, लाक्षागृहके दाहसे, हिडिम्बादि राक्षसोंके नेत्रपथसे, द्यूतस्थान एवं बनवासरूप कष्टसे, प्रत्येक युद्धमें ही भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि बहुतसे महारथियोंके प्राणघातक अस्त्रसमूहोंसे और इस समय अश्वत्थामाके इस ब्रह्मास्त्र से हमारी सब प्रकारसे रक्षा की है ॥२४॥

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥२५॥

हे विश्वपति कृष्ण ! जिन सभी विपत्तियोंके घटित होने पर हमारे परम सौभाग्यके कारण पुनर्जन्मको नाश करनेवाले अर्थात् मोक्षदायक तुम्हारे दुर्लभ दर्शन प्राप्त होते हैं, हमारे लिए वे सभी विपत्तियाँ पूर्वोक्त सभी दशाओंमें चिर दिनके लिए उपस्थित हों, हे जगद्गुरु कृष्ण ! आपसे यही मेरी प्रार्थना है ॥२५॥

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचनगोचरम् ॥२६॥

हे कृष्ण ! सत्कुल, विद्या, धन और रूपादि ईन्धन प्राप्त कर जिनकी अहङ्काररूपी अग्नि अत्यन्त बढ़ गई है, ऐसे व्यक्ति तुम्हारे निष्काम और निरभिमान भक्तों द्वारा बारम्बार प्रेमपूर्वक कीर्त्तित श्रीकृष्ण, गोविन्द इत्यादि शुद्धनाम कीर्त्तन करनेमें कदापि समर्थ नहीं होते, क्योंकि तुम केवल अकिञ्चन व्यक्तियोंके गोचरीभूत होते हो ॥२६॥

नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥२७॥

निष्किंचन भक्त ही तुम्हारे सर्वस्व हैं। तुम्हें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि चतुर्वर्गोंकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं है क्योंकि तुम स्वयं ही पुर्णतम आनन्दके भोक्ता हो। अतएव तुम केवल रागादि कामनारहित नहीं हो, बल्कि मोक्ष के एकमात्र देनेवाले हो। तुम सभी प्राणियोंके हृदयमें रमण करते हो। तुम्हें मैं बारम्बार नमस्कार करती हूँ ॥२७॥

मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम् ।
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः ॥२८॥

हे कृष्ण ! तुम सभीके कालस्वरूप और ईश्वर हो, केवल देवकीपुत्र ही नहीं; क्योंकि तुम सभीके नियन्ता हो, तुम्हारा कोई आदि या अन्त नहीं है, तुम सभी प्राणीमात्रके प्रभु हो, तुम्हारी सर्वत्र समभावसे स्थिति है। पार्थसारथि होने पर भी तुम्हें निमित्तस्वरूप बनाकर प्राणीगण ही परस्पर कलह करते हैं। वस्तुतः तुम्हारेमें कोई स्वरूपगत वैषम्य नहीं है ॥२८॥

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम् ।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद् द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम् ॥२९॥

हे ईश्वर ! कदापि तुम्हारे कोई प्रिय मित्र या अप्रिय शत्रु नहीं है। अतएव तुम मनुष्योंके लौकिकी क्रिया-कलापादिका अनुकरण कर जिस कार्यका सम्पादन करना चाहते हो, उसके बारेमें कोई भी व्यक्ति जाननेमें समर्थ नहीं है। तुम्हारेमें मनुष्य लोग अनुग्रह-निग्रहरूप विषम बुद्धिका आरोप किया करते हैं।

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः ।
तिर्यङ्नृऋषिषुयादःसु तदत्यन्तविडम्बनम् ॥३०॥

हे जगतके अन्तर्यामी ! तुम अनादि तथा निष्क्रिय हो। तुम परमात्मा, अन्तर्यामी हो। तुम पशु-लीलामें वराहादि रूपसे हो, नरलीलामें रामादि रूपसे हो; ऋषि-लीलामें नर-नारायणादि रूपसे हो, जल-जन्तु लीलामें मत्स्यादि रूपसे हो; इस प्रकारसे अवतीर्ण होकर तुम जो-जो लीलाएँ करते हो, वे सभी केवल अभिनय अर्थात् लोकवञ्चनाके निमित्त हैं ॥३०॥

———

(क्रमशः)

श्रीविग्रह

मनुष्योंकी दो प्रकारकी प्रतीतियाँ या दर्शन हैं—(१) अविद्वत् प्रतीति और (२) विद्वत्-प्रतीति । अविद्वत् प्रतीतिमें माया वृत्तिका संस्पर्श या अविद्या वर्त्तमान है । विद्वत्-प्रतीति सम्पूर्ण माया-संस्पर्शसे निर्मुक्त और विद्या या सत्स्वरूप द्वारा प्रभावान्वित होनेके कारण अतीन्द्रिय अधोक्षज अमल ज्ञानको प्रकाश करती है । साधारण मनुष्यकी स्थूल और सूक्ष्म इन्द्रियाँ श्रीभगवानकी अपरा शक्तिद्वारा (माया शक्तिद्वारा) निर्मित होनेके कारण भोग-सर्वस्व प्रत्यक्षग्राह्य जड़ विषयोंको ग्रहण करनेमें ही समर्थ हैं । किन्तु यदि कोई-कोई असाधारण व्यक्ति परिपूर्ण ज्ञानभण्डार अधोक्षज पुरुषके सच्चिदानन्द स्वरूपके प्रति सेवोन्मुखी प्रवृत्तिके साथ उनके शरणागत हो, तो भोग-सर्वस्व प्रत्यक्ष जड़विषयोंकी मायिक वृत्ति को भेद करते हुए विशुद्ध अतीन्द्रिय निर्मल वास्तव ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं । यही विद्वत्-प्रतीतिका प्रभाव है । अर्थात् अविद्वत्-प्रतीतिमें आत्मेन्द्रिय प्रीति-वांछारूप कैतव प्रकट रूपसे या अप्रकट रूपसे जिस किसी प्रकारसे वर्त्तमान है ।

विद्वत्-प्रतीति केवलमात्र भगवत्सुख तात्पर्य-विशिष्ट है । अविद्वत् प्रतीति प्रत्यक्षको छोड़कर और कुछ भी दर्शन करनेमें समर्थ नहीं होती या धारण नहीं कर सकती । विद्वत्-प्रतीति प्रत्यक्षको भेद करते हुए ईशाश्रया दृष्टिकी सहायतासे अतीन्द्रिय ज्ञानको प्राप्त करती है । अतएव अविद्वत्-प्रतीतिमें विपर्यय दर्शन, अवर दर्शन, भ्रम दर्शन, द्वितीय दर्शन, खण्ड या असम्यक् दर्शन अवश्यम्भावी है । विद्वत्-प्रतीति सर्वदेशव्यापिनी होनेके कारण उसीमें ही अखण्ड या अद्वय-दर्शन है। एकमात्र विद्वत्-प्रतीति-सम्पन्न भागवत-स्वरूपके प्रति सम्पूर्ण रूपसे प्रपत्ति स्वीकार करनेको छोड़कर जीवोंके लिये अद्वयज्ञान या विद्वत्-प्रतीति प्राप्त करनेके लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है । विद्वत्-प्रतीति प्राप्त करनेका दूसरा नाम ही दिव्यज्ञान या दीक्षा है । जड़ जगतमें जो जितने भी अध्ययनशील, मेधावान्, दार्शनिक, वैज्ञानिक, कर्मवीर या धर्मवीर क्यों न बनें, बिना तत्वदर्शी व्यक्तिके प्रणिपात, सेवा और परिप्रश्न किये अद्वयज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते । अर्जुन भगवत्स्वरूपके प्रति प्रपत्तिके बलपर ही भगवत्-स्वरूपको दर्शन करनेमें समर्थ हुए थे । प्रमाणशिरोमणि श्रुतिमें नचिकेताके प्रति यमराजका यह उपदेश देखा जाता है—

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।"

जो विद्वान व्यक्ति परमात्मास्वरूपके प्रति

शरणागत होते हैं एकमात्र उनके निकट ही परमात्मा अपना विशुद्ध सत्स्वरूप प्रकाश करते हैं। किन्तु हम लोगोंमेंसे अधिकांश व्यक्ति ही इस वेदवाणीको अस्वीकार कर या केवल मुखमें स्वीकार करते हुए करते हैं—'क्या अपनी इन्द्रियोंके द्वारा इसे हम जान नहीं सकते ?' इस प्रकार अत्यन्त दांभिकताके साथ भगवत्तत्त्व निर्णय करनेकी चेष्टा करते हैं। ऐसी बुद्धि द्वारा चालित होने पर ही हम चित्-स्वरूप भगवानके नित्यप्रतिभू और उद्दीपक-तत्व श्रीमूर्तिको काठ, पत्थर, मिट्टीकी तरह अनित्य जड़वस्तु समझ बैठते हैं। श्रीमूर्तिको पुतलीकी तरह मनुष्य-निर्मित वस्तु समझते हैं अथवा काठ-पत्थर ज्ञान भीतर प्रबल रहने पर भी कपटतापूर्वक भौम या पार्थिव वस्तुमें पूज्य-बुद्धि कर उसके द्वारा अपनी भोग-पिपासाको चरितार्थ करनेकी चेष्टा करते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर हम लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि श्रीविग्रहद्वारा भगवान्‌का भूमास्वरूप परिच्छिन्न हो जाता है। अथवा काठ, पत्थर, मिट्टीके भीतर अनुस्यूत चैतन्यस्वरूप ही हमारी लक्षीभूत पूज्यवस्तु है—ऐसा सोचते हैं। अथवा दूसरी भाषामें भगवानके देह और देहीमें भेद वर्त्तमान है—इस प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा उत्पन्न विश्वासके द्वारा "यथाभिमतध्यानाद्वा" इत्यादि वाक्योंकी कल्पना कर चिन्मय प्रतीकको मनको संयमन करनेका यंत्र विशेषमात्र समझते हैं और अनित्य काठ-पत्थरका दूसरा रूपान्तर मात्र समझते हैं। ये सभी धारणाएँ ही अविद्वत्-प्रतीति द्वारा उत्पन्न विचित्रताके परिचयस्वरूप हैं।

विद्वत्-प्रतीतिमें अद्वयज्ञान या भगवानके असंशय सम्पूर्ण स्वरूपकी उपलब्धि होती है। (श्रीमद्भगवद्गीता ७।१) सम्पूर्ण और परिपूर्ण स्वरूपमें किसी भी शक्तिका अभाव नहीं है। इसलिये उक्त दर्शनमें अनन्तशक्तिसम्पन्न भगवानकी अचिन्त्यशक्ति स्वीकृत हुई है। दुर्घट-घटकत्व या असंभव जैसे दीखनेवाले कार्यों का भी सम्पादन करना ही अचिन्त्यत्वका लक्षण है। इसलिए श्रीभगवानमें अनन्त विरोधी गुण सभी नित्य युगपत् रूपसे अति सुन्दरताके साथ वर्त्तमान रहकर उनकी सर्वशक्तिमत्ता का परिचय दे रहे हैं। अतएव उस विरोध-भञ्जिका शक्तिके बलसे उनका विभुत्व और मूर्त्तित्व—दोनों युगपत् वर्त्तमान हैं। श्रुतियोंमें असंख्य विरोधसूचक मंत्र देखे जाते हैं। छान्दोग्य-श्रुतिके अन्तिम भागमें "श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये"—इस मंत्रमें मूर्त्तित्वमें विभुत्व और विभुत्वमें मूर्त्तित्वका परिचय पाया जाता है। जीवके विशुद्ध चिद्देहगत अप्राकृत निरुपाधिक नेत्रों द्वारा भगवानके नित्य मध्यमाकार श्रीविग्रहका दर्शन प्राप्त होता है। सोपाधिक (किन्तु स्थूल जड़दर्शी नेत्र नहीं) नेत्रों द्वारा योगैश्वर्य विराट् रूपका दर्शन होता है और सोपाधिक स्थूल नेत्रों द्वारा जड़ रूपका दर्शन होता है। विद्वान् व्यक्ति शुद्ध चिन्मय समाधियोगमें 'प्रेमांजनच्छुरित भक्तिविलोचन'

के द्वारा जिस नित्य अप्राकृत अचिन्त्य स्वरूप का दर्शन करते हैं, प्राकृत जगतमें उसी रूपका प्रतिच्छाया - स्वरूप श्रीविग्रह है । इसलिए श्रीमूर्त्ति कल्पित नहीं है या श्रीमूर्त्तिमें देह-देहीका भेद नहीं है। श्रीमूर्त्ति प्राकृत जगतमें वर्त्तमान रहने पर भी अप्राकृत है—

"एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः ।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥"

(भा० १।११।३४)

प्रकृतिस्थ होकर भी उसके गुणों द्वारा वशीभूत न होना ही ईश्वरकी ईशिता है। मायाबद्ध जीवकी बुद्धि जब ईशाश्रया होती है, तब वह मायाके निकटमें रहनेपर भी मायाके गुणों द्वारा संयुक्त न होती और केवल उसी समय ही अप्राकृत तत्त्वकी उपलब्धि की जा सकती है।

श्रीमूर्त्ति सविकल्प-समाधिके अनित्य मनोमय विग्रह नहीं हैं । आरोहपन्थाकी कैवल्य-समाधि या निर्विकल्प समाधिरूप प्रयोजन प्राप्त करनेके लिये 'यथाभिमतध्यानाद्वा'—इस सूत्रके अनुसारसे इच्छानुरूप किसी भी वस्तुका ध्यान करते-करते ध्यान गाढ़ होने पर जड़मनमें जिस मनोमयी मूर्त्तिका दर्शन होता है, उसके साथ अवरोहपन्थाकी विद्वत्-प्रतीति द्वारा सेवोन्मुख अप्राकृत नेत्रोंसे भगवानके जिस अचिन्त्य नित्यस्वरूपका दर्शन होता है, एक नहीं है। एक तो जड़सम्बन्धयुक्त मनःकल्पित जड़मूर्त्ति है । दूसरी तो सम्पूर्ण जड़ातीत ईशानुगत चिदिन्द्रियमें प्रतिफलित वास्तव वस्तु है ।

सविकल्प-समाधिकी मनोमयी मूर्त्ति निर्विकल्प-समाधिमें विलीन हो जाती है, किन्तु अप्राकृत चिन्मयी दिव्य श्रीमूर्त्तिका सूरिगण (भक्त लोग) सदा स्वतःप्रकाश सूर्यकी तरह प्रेम विभावित अप्राकृत नेत्रों द्वारा दर्शन करते रहते हैं—

"ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् । ॐ तद्विष्णोः परमं पदम् ॥"

'दिवीव चक्षुराततं' शब्द द्वारा स्वतः प्रकाश वस्तुको लक्ष्य किया गया है । अतएव आरोहपन्थाके अभ्यासयोग या चित्तवृत्ति निरोधरूप अपनी चेष्टा द्वारा स्वतः प्रकाश वस्तु का दर्शन नहीं होता । मनः कल्पित मूर्त्तिका ही दर्शन होता है। 'सदा' शब्द द्वारा चिन्मय मूर्त्तिकी बात बतलाई गई है। 'पदम्' शब्द द्वारा विष्णु या व्यापक वस्तुका अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे मूर्त्तत्व प्रतिपादित किया गया है। अतएव विष्णुका परमपद नित्य अप्राकृत श्रीविग्रह "साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणः रूप-कल्पना" —इस वाक्यानुसार सायुज्यकामी व्यक्तिका कल्पित प्रतीक या सविकल्प-समाधि का जड़ीय मनोमय विग्रह नहीं है या 'भोम—इज्यधी' युक्त भोग परायण व्यक्तिका कल्पित मूर्त्ति नहीं है। अतएव कलियुग पावनावतारी श्रीश्रीगौरसुन्दरने सार्वभौम भट्टाचार्यसे कहा था—

ईश्वरेर श्रीविग्रह सच्चिदानन्दाकार ।
से विग्रह कहो सत्वगुणेर विकार ॥
श्रीविग्रह जे ना माने सेइत पाषण्डी ।
अस्पृश्य अदृश्य सेइ हय यमदण्डी ॥
(श्रीचैतन्यचरितामृत, मध्य ६।१६६, १६७)

ईश्वरका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दाकार है; उसे तुम सत्त्वगुणका विकार बतला रहे हो। जो व्यक्ति ईश्वरका श्रीविग्रह नहीं मानता, वही पाषण्डी है। वह अस्पृश्य और अदृश्य है और यमराजके द्वारा दण्डनीय है।

नाम, विग्रह, स्वरूप - तिन एकरूप ।
तिने भेद नाहि—तिन चिदानन्द-रूप ॥
देह-देहीर, नाम-नामीर कृष्णे नाहि भेद ।
जीवेर धर्म-नाम-देह-स्वरूपे विभेद ॥
अतएव कृष्णेर नाम, देह, विलास ।
प्राकृतेन्द्रिय ग्राह्य नहे, हय स्वप्रकाश ॥
(श्रीचैतन्यचरितामृत, मध्य १७।१३१,१३२,१३४)

वस्तुतः कृष्णका नाम और कृष्णका स्वरूप —दोनों ही चिद्वस्तु हैं; अर्थात् नाम, विग्रह और स्वरूप तीनों ही चिदानन्दमय हैं। बद्ध-जीवका देह जीवरूप देहीसे पृथक् है और बद्धजीवका जागतिक नाम उसके आत्मा या स्वरूपसे भिन्न है। किन्तु कृष्णमें वैसा भेद नहीं है। कृष्णके देह-देही और नाम-नामी अभिन्न हैं। कृष्णमें माया या मायाका सम्बन्ध न रहने के कारण देह-देही, नाम-नामी भेद असम्भव है। बद्धजीवके ही नाम, देह और स्वरूपमें परस्पर पृथक् धर्म वर्त्तमान है। अतएव कृष्णके नाम-देह-विलास आदि प्राकृतेन्द्रिय ग्राह्य नहीं हैं, बल्कि स्वतःप्रकाश हैं।

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रभुसे प्रार्थना

प्रभु मेरे, मोसौ पतित उधारौ ।
कामी, कृपिन, कुटिल, अपराधी, अघनि भरयौ बहु भारौ ॥
तीनौ पनमें भक्ति न कीन्ही, काजर हू तें कारौ ।
अब आयौ हौं सरन तिहारी, ज्यौं जानो त्यौं तारौ ॥
गीत-व्याध-गज-गनिका उधारी, लै लै नाम तिहारौ ।
सूरदास प्रभु कृपावंत ह्वै लै भक्तनि मैं डारौ ॥

(सूरदासजीकी पदावलीसे)

प्रश्नोत्तर

(साधुसंग)

१—किस समय जीवकी साधुसंगके प्रति रुचि होती है ?

"बहुत सुकृतिके फलस्वरूप प्राप्त भगवत्-कृपासे जीवकी संसारवासना दुर्बल हो पड़ती है। उस समय स्वभावतः ही साधुसंगमें स्पृहा का उदय होता है। साधुसंगमें रहकर कृष्ण कथा आलोचना करते-करते श्रद्धाका उदय होता है और क्रमशः अधिकतर चेष्टाके साथ कृष्ण-सम्बन्धी अनुशीलन होनेपर भगवानको प्राप्त करनेका लोभ उदित होता है। उस समय शुद्धचरित्र तत्त्वज्ञ-गुरुके चरणाश्रय ग्रहण कर भजन-शिक्षा करनेकी आवश्यकता होती है। भजन-बलसे ही जीव भगवत्कृपा प्राप्त करने में समर्थ होता है।"

—'साधन' स० तो० ११।५

२—साधुसंगकी क्या प्रयोजनीयता है ?

"साधुओंके चरित्रका अनुसरण करना चाहिए और साधुओंके सिद्धान्त-विचार आदि की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।"

—'तत्तत्कर्मप्रवर्त्तन' स० तो० ११।६

३—गुरुपादाश्रय क्या है ?

"अन्तरंग साधुका संग ग्रहण करना ही गुरुपादाश्रय है।"

—'पञ्चसंस्कार' स० तो० २।१

४—क्या साधु लोग कदापि अपस्वार्थपर नहीं होते ?

"देवता लोग स्वार्थपर हो सकते हैं, किन्तु वास्तविक साधु लोग कदापि स्वार्थपर नहीं होते। अतएव अपने आत्ममंगलका साधन करनेके लिए जहाँ-जहाँ विशुद्ध भगवत्-प्रीतिके लिए लालसा वर्त्तमान है, जहाँ-जहाँ कृष्ण कथाकी प्रचुर आलोचना हो, जहाँ-जहाँ हरि-संकीर्त्तन हो, जहाँ-जहाँ कृष्णके गुणगान श्रवण करनेकी तीव्र इच्छा है, जहाँ-जहाँ कृष्ण और वैष्णवोंकी प्रशंसा की जाती है, वहाँ-वहाँ भजन-प्रयासियोंको तत्परतासे जाना चाहिए।"

—आ० वि० भा० टी०

५—जीवका लुप्त स्वभाव किस प्रकार जाग्रत हो सकता है ?

"जिस व्यक्तिका अपना निज-स्वभाव अत्यन्त लुप्तप्राय है उसे कौन जगा सकता है ? कर्म, ज्ञान और वैराग्य-चेष्टासे यह कार्य नहीं हो सकता; इसलिए जिनका अत्यन्त सौभाग्य से स्व-स्वभाव जाग्रत हुआ है, ऐसे व्यक्तियोंके सङ्ग-बलसे ही जीवका गुप्तप्राय स्व-स्वभाव जागृत हो सकता है। इस विषयमें दो घटनाओं का प्रयोजन है। जो व्यक्ति अपने स्व-स्वभाव को जाग्रत करना चाहते हैं, वे पूर्व भक्तचन्मुखी-

सुकृतिके द्वारा थोड़े बहुत परिमाणमें शरणापत्ति लक्षणा श्रद्धा प्राप्त करें। यही पहली घटना है। उस सुकृतिके बलसे उनका किसी उपयुक्त साधुसे सङ्ग हो—यही दूसरी घटना है।"

—'दशमूल-निर्यास' स० तो० ९।९

६—मानव-स्वभावका मूल क्या है ?

"संग द्वारा ही स्वभाव गठित होता है। जो व्यक्ति जिसका सङ्ग करता है, उसका उसी प्रकार स्वभाव बन जाता है। पूर्व-जन्मके सङ्गरूप कर्मके द्वारा जीवका जो स्वभाव गठित होता है, उसका आधुनिक जन्मके सङ्ग द्वारा परिवर्त्तन हो जाता है। अतएव सङ्ग ही मनुष्य स्वभावका मूल है।"

—'साधुसङ्गका प्रणाली-विचार' ससङ्गिनी (क्षेत्रवासिनी) स० तो० १५।२

७—वैष्णवप्राय या बालिश व्यक्तियोंकी उन्नतिका एकमात्र कारण क्या है ?

"पक्व योगी लोग भक्तियोगारूढ़ उत्तम भक्त हैं और अपक्व योगी लोग योगारुरुक्षु कर्म-धर्म सापेक्ष मध्यम भक्त हैं। कर्मासक्त, भक्तप्राय व्यक्ति लोग 'कोमलश्रद्ध कनिष्ठ भक्त', 'वैष्णवप्राय' या 'बालिश' कहे जाते हैं। इनके हृदयमें भक्तिका आभासमात्र उदित हुआ है। शुद्धभक्ति थोड़ीसी भी उदित होनेपर ये लोग कर्मासक्तिका त्याग कर कर्म-धर्म सापेक्ष मध्यम भक्त हो सकते हैं। साधुसङ्ग ही इन सभी उन्नतियोंका एकमात्र कारण है।"

—आ० वि० भ० टी०

८—किनका सङ्ग करना उचित है ? कैसे सङ्गद्वारा परमार्थानुशीलनमें उन्नति होता है ?

"जिनके हृदयमें शुद्धभक्ति उदित हुई है, वे अनन्य कृष्ण-भक्त हैं। मध्यम होनेपर भी सङ्ग करने योग्य हैं। साधक व्यक्ति अपनेसे श्रेष्ठ भक्तका आश्रय ग्रहण करनेपर ही उन्नति प्राप्त कर सकते हैं।"

—आ० वि० भा० टी०

९—शुद्धभक्तके साथ बाहरी व्यवहारमें भी किस प्रकारसे सङ्ग करना उचित है ?

"बाजारमें द्रव्य खरीदते समय जिस प्रकार नये व्यक्तिके साथ केवल बाहरी व्यवहार करना पड़ता है, वैसा व्यवहार साधारण व्यक्तियोंके साथ करना चाहिए। शुद्धभक्तोंके साथ ऐसे व्यवहारमें भी प्रीतिपूर्वक सङ्ग करना चाहिए।"

—'सङ्गत्याग' स० तो० ११।११

१०—वैष्णव लोगोंके पास बैठे रहनेसे क्या समयका नाश नहीं होता ?

'श्रीरामानुजाचार्यका चरम उपदेश यही है—'तुम अगर अपनेको किभी भी चेष्टासे शुद्ध नहीं कर सको, तो वैष्णवोंके पास जाकर बैठे रहने पर भी तुम्हारा अवश्य ही मङ्गल होगा।"

—'सङ्गत्याग' स० तो० ११।११

११—वैष्णव-सङ्गमें मङ्गल-प्राप्तिका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण पाया जाता है या नहीं ?

"वैष्णवोंका संस्कृत भक्त-चरित्र देखते-देखते थोड़े ही दिनोंमें मनकी प्रवृत्ति बदल जाती है, विषयासक्ति नष्ट होती है और हृदय में भक्तिका अंकुर उदित होता है। आहार-व्यवहारके सम्बन्धमें भी क्रमशः वैष्णवोचित क्रियाएँ हो पड़ती हैं। वैष्णवोंके सङ्गमें रहते-रहते बहुतसे व्यक्तियोंका स्त्रीसङ्ग-रुचि, अर्थ-पिपासा, भुक्ति-मुक्ति वांछा, कर्म-ज्ञानके प्रति आदर, मत्स्य-मांस-मद्य-तम्बाकू-धूम्रपान और ताम्बूल-सेवन करनेकी स्पृहा आदि अनर्थ दूर हुए हैं—यह हमने देखा है। वैष्णवोंके अव्यर्थ-कालत्व धर्मको देखकर बहुतसे व्यक्तियोंने आलस्य, निद्राधिक्य, वृथा वार्त्तालाप, वाक्यादि षड्-वेग आदि अनर्थोंको अनायास ही दूर किया है। हम लोगोंने यह भी देखा है कि वैष्णवों के साथ रहते-रहते किसी-किसी व्यक्तिकी शठता और प्रतिष्ठाशा भी दूर हुई हैं। थोड़ेसे भी आदरके साथ वैष्णव-सङ्ग करनेपर बुरे संस्कार, दुरासक्ति आदि सभी अनर्थ ही दूर हो जाते हैं—यह हमने अपने आँखोंसे देखा है। युद्धमें जय-पिपासावाले, राज्य प्राप्त करने विशेष कुशल, प्रचुर धन-संग्रह करनेमें अत्यन्त व्याकुल व्यक्ति—ये सभी चित्त-शुद्ध होकर कृष्ण भक्ति प्राप्त किए हैं। हम 'वितर्क द्वारा जगतको पराजय कर दिग्विजय प्राप्त करेंगे'—ऐसे दुष्ट अभिप्रायवाले व्यक्तियोंका भी चित्त स्थिर हुआ है। वैष्णव-सङ्गके बिना संस्कार, आसक्ति आदिका संशोधन करनेके लिए दूसरा उपाय नहीं है।"

—'सङ्गत्याग' स० तो ११।११

१२—साधु लोग क्या करते हैं ?

"साधु लोग अन्तर-हृदयके नेत्र खोल देते हैं।"

—'भक्त्यानुकूल्य विचार' भा० म० १५।१७

११—साधुओंका स्वभाव क्या है ?

"साधु लोग कदापि दूसरोंका दोष ग्रहण नहीं करते। दूसरोंके थोड़ेसे गुणको भी बहुत बढ़ाकर उनका सम्मान किया करते हैं।"

—'भक्त्यानुकूल्य विचार' भा० मा० १५।२६

१४—क्या साधुओंकी संख्या खूब अधिक है ? बाहरी वेश देखकर साधुका निर्णय करना उचित है या नहीं ?

"कलिकालमें साधुका विचार एकदम उठता जा रहा है। दुःखकी बात यही है कि जिस किसी व्यक्तिका बाहरी वेश देखकर 'साधु' समझकर सङ्ग करते हुए हम लोग सभी क्रमशः 'कपटी' होते जा रहे हैं—हमें सर्वदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिए। बहुतसे साधु नहीं मिलते। आजकल साधुओं की संख्या इतनी थोड़ी है कि बहुत स्थानोंका भ्रमण करके या बहुत समय तक अनुसन्धान करके भी एक वास्तविक साधु मिलना दुर्लभ हो गया है।"

—'साधुसङ्गका प्रणाली-विचार,' सस-ङ्गिनी (क्षेत्रवासिनी) स० तो० १५।२

१५—शुद्ध वैष्णव और वंचकके पार्थक्य निरूपण करनेमें अपनी बुद्धिमत्ता दिखलाना उचित है या नहीं ?

"विशुद्ध भक्ति और शुद्ध भक्तका पृथक् स्थान निर्द्धारित करनेके लिए ही श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने भक्तोंका शाखा-निर्णय करनेकी बात दिखलाई है। उसे देखकर हम आज भी शुद्धवैष्णव और वंचकोंमें भेद जान सकते हैं। इस विषयमें अन्धाधुन्धु अपना मत प्रकाश करना अनुचित है। सत्संगको छोड़कर जीवोंका कदापि मंगल नहीं होता। इसलिए शुद्ध वैष्णवोंको पृथक् रूपसे सम्मानादि देना चाहिए।"

—'समालोचना', स० तो० १०।५

—जगद्गुरु ॐविष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

प्रभुसे दैन्यमयी प्रार्थना

प्रभु, मेरे गुन-अवगुन न विचारौ।
कीजै लाज सरन आए की, रवि-सुत-त्रास निवारौ॥
जोग-जज्ञ-जप-तप नहिं कीन्हौ, बेद बिमल नहिं भाख्यौ।
अति रस-लुब्ध स्वान जूठनि ज्यों, अनत नहिं चित राख्यौ॥
जिहिं-जिहिं जोनि फिरयौ संकट बस तिहिं-तिहिं यहै कमायौ।
काम-क्रोध-मद-लोभ-ग्रसित ह्वै बिषय परम बिष खायौ॥
जौ गिरिपति मसि घोरि उदधि मैं, लै सुरतरु बिधि हाथ।
मम कृत दोष लिखै बसुधा भरि, तऊ नहिं मिति नाथ॥
तुमहिं समान और नहिं दूजौ, काहि भजौं हौं दीन।
कामी, कुटिल, कुचील, कुदरसन, अपराधी, मति-हीन॥
तुम तौ अखिल, अनन्त, दयानिधि, अबिनाशी, सुख-रासि।
भजन-प्रताप नाहिं मैं जान्यौ, परचौ मोह की फाँसि॥
तुम सरबज्ञ, सबै बिधि समरथ, असरन-सरन मुरारि।
मोह-समुद्र सूर बूड़त है, लीजै भुजा पसारि॥

(सूरदासजीकी पदावली से)

धर्म और नीति

धर्म और नीति दोनों अलग-अलग शब्द होनेपर भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्धयुक्त हैं। जिस उपाय द्वारा इस जागतिक या अपर जागतिक अर्थ की प्राप्ति हो, वही नीति है। साधारण अर्थ है—धर्माधर्म या हिताहित विचारविवेक जिस वाणी द्वारा प्राप्त हो, वही नीति है। मनुष्योंका कर्त्तव्य या अवश्य ही आचरणीय कार्य धर्म है। देश-काल-पात्र-भेदसे, समाज भेदसे, वर्णाश्रम-आचार आदिके भेदसे धर्मके बहुतसे रूपान्तर हैं—जागतिक धर्म, लौकिक धर्म, सामाजिक धर्म, दैहिक धर्म, मनोधर्म आदि। किन्तु वास्तवमें विचार करने पर धर्म एक ही है। वह जीवमात्रके लिए, त्रिकालके लिए और सभी स्थानोंके लिए एक ही है। वह है ईश्वरकी उपासना। इसके अलावा जितने भी धर्म हैं, वे तात्कालिक, अनित्य और क्षणस्थायी हैं। वे सर्वदा परिवर्त्तनशील हैं। किन्तु वास्तविक धर्म सर्वदा ही नित्य है। शास्त्रोंमें कहा गया है—

आहार निद्रा भयं मैथुनञ्च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात् आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि कार्य मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सभी प्राणियोंमें ही एक समान हैं। किन्तु मनुष्यमें धर्माधर्म विचार करनेकी शक्ति है। इसीलिए मनुष्यकी विशेषता है। धर्मसे विहीन मनुष्य पशुके ही तुल्य है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न शसन्त्युत।
खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामे पशवोऽपरे॥
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥
(भा० २।३।१८,१९)

क्या वृक्ष सभी जीवित नहीं रहते? लोहार की धौंकनी क्या श्वास नहीं लेती? क्या ग्राम्य पशु सभी आहार और स्त्री-संभोग नहीं करते? अतएव जो व्यक्ति केवल आहार-निद्रा-मैथुनादि में अपना समय बिता देते हैं, व लोग भी नराकार पशुमात्र हैं। जिस मनुष्यके कानोंमें कदापि कृष्णनामका प्रवेश नहीं हुआ, उस मनुष्यकी कुत्ता, ग्राम्य सूअर, ऊँट और गदहे से तुलना देनेपर भी अत्युक्ति नहीं होगी। अतएव धर्मविहीन होनेपर मनुष्यत्व नहीं रह जाता। धर्म प्राणीमात्रके लिए आचरणीय और ग्रहणीय है। हमारे वैदिक शास्त्रोंमें वर्णित धर्म ही सनातन या नित्य धर्म है। इसी धर्मकी भगवान बारम्बार जगतमें अवतार लेकर पुनः संस्थापना करते हैं अथवा अपने निजजनोंको भेजकर यह कार्य करवाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

धर्मकी व्याख्या श्रीमद्भागवतमें ऐसी की गयी है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥
(भा० १।२।६)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नाम-ग्रहणादिभिः ॥
(६।३।२२)

अर्थात् जिसके द्वारा इन्द्रियज्ञानातीत श्रीकृष्णके प्रति श्रवणादिलक्षणाफलाभिसन्धान-रहिता ऐकान्तिकी स्वाभाविकी निरपेक्षा भक्ति हो, वही मनुष्यमात्रका परम धर्म है। उसी धर्मका सम्यक् प्रकारसे पालन करनेपर आत्मा अनर्थमुक्त होकर सम्पूर्ण रूपसे प्रसन्नता प्राप्त करती है। नामसंकीर्त्तनादिके द्वारा भगवान्‌के प्रति जिस भक्तियोगका आचरण किया जाता है, वही इस जगतमें मनुष्यका सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

नीतिके विषयमें महाभारतके शान्ति--पर्व में कहा गया है—सृष्टिके प्रारम्भमें सभी व्यक्ति पाप पथमें चल रहे थे। यह देखकर देवताओं-ने जाकर ब्रह्माजीसे इसका प्रतिकार करनेके लिए प्रार्थना की। ब्रह्माजीने उनकी प्रार्थना सुनकर एक लाख अध्याययुक्त नीति--शास्त्रकी रचना की। महादेवजी (शिवजी) ने उसे संक्षेप कर दस हजार अध्याय किया। उसके पश्चात् इन्द्रने पाँच हजार, बृहस्पतिने तीन हजार और शुक्राचार्यने एक हजार अध्यायोंमें संक्षिप्त किया। नीतिके सम्बन्धमें कहा गया है—

आपदार्थे धनं रक्षेत् आगारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि ॥
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
अनृतं च प्रियं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

अर्थात् आपत्तियोंके लिये धनकी रक्षा करनी चाहिए और सम्पत्तिको धनसे रक्षा करनी चाहिए। अपनी प्रिय आत्माका सर्वदा अपनी स्त्री और धनसे भी सुरक्षा करनी चाहिए। सत्य कहना चाहिए और प्रिय कहना चाहिए किन्तु अप्रिय सत्य न कहना चाहिए। प्रिय असत्य कहना चाहिए। यही सनातन धर्म है। किन्तु यह बात पूर्णरूपसे ठीक नहीं है। यह पारलौकिक धर्म नहीं है।

यद्यपि पहले यह कहा गया है कि सत्य बात कहनी चाहिए और झूठ नहीं बोलना चाहिए, फिर भी भगवान वामनदेव जब बलि महाराजके निकट तीन पग भूमिकी याचना करने लगे, तब बलिसे शुक्राचार्यजीने कहा—

त्रिभिः क्रमैरिमाल्लोकान् विश्वकायः क्रमिष्यति ।
सर्वस्वं विष्णवे दत्वा मूढः वर्त्तिष्यसे कथम् ॥
(भा. ८।१९।३३)

हे मूढ़ ! ये वामन आकार होने पर भी साक्षात् विश्वकाय विष्णु हैं और तीन पग देनेपर तुम्हारा सर्वस्व छीन लेंगे। विष्णुको सर्वस्व देकर तुम किस प्रकार अपना जीवन-

निर्वाह करोगे ? तब बलि महाराजने कहा कि मैं भक्तराज प्रह्लाद महाराजका वंशधर होकर किस प्रकार अपने वचनको झूठा करूँ? तब शुक्राचार्यजीने कहा—

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्यर्थे प्राणसङ्कटे ।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृते स्यादुगुप्सितम् ॥

अर्थात् स्त्रियोंके निकट रहस्यकी छलनासे, विवाह करानेके लिए, जीविका निर्वाहके लिए, प्राणसङ्कटकालमें, गोब्राह्मणादिके लिये और हिंसाका निवारण करनेके लिए मिथ्या भाषण करना निन्दनीय नहीं है ।

किन्तु बलि महाराजने शुक्राचार्यकी यह बात ग्रहण न कर भगवान वामनदेवको अपना सर्वस्व अर्पण कर उनकी पूर्ण कृपाके अधिकारी हुए थे ।

वसुदेव महाराजने भी साधारण नीतिका आदर नहीं किया । भगवानकी सेवाके लिये साधारण जड़नीतिकी अवहेलना करनेपर कोई दोष नहीं होता । वसुदेवजीने कंसको वचन दिया था कि मैं अपने सभी पुत्रोंको तुम्हें दे दूँगा । किन्तु जब स्वयं भगवान कृष्ण प्रकट हुए, उन्होंने कंससे उनके विनाशकी आशंकासे कृष्णको लेकर नन्दगृहमें रखकर यशोदाजीकी कन्याको लेकर आना उचित समझा । यद्यपि वसुदेवका ऐसा आचरण साधारण विचारमें झूठा हो सकता है, किन्तु यही पारमार्थिक सत्य या धर्म है । यही शुद्ध नीति है । यही परम भक्तिका लक्षण है । किन्तु इधर राजा दशरथने कैकेयीको वर देकर श्रीरामचन्द्रको वनवास दिलवाया । इस प्रकार वे भगवानकी सेवासे वञ्चित होकर विरह-वेदनासे प्राणत्याग किये । इसी प्रकार पाण्डवोंने भी भगवान कृष्णकी आज्ञासे मिथ्या भाषण किया था । अतएव शास्त्रोंमें कहा गया है—

मन्निमित्तं कृतं पापं धर्माय कल्पते ।
मामनादृत्य धर्मन्तु अधर्माय कल्पते ॥

अर्थात् मेरी (भगवान की) सेवाके लिये पाप भी किया जाय, वही धर्म है और मेरा (भगवानका) अनादर कर धर्म भी अधर्म ही है । अतएव जागतिक नीतिसे धर्म अत्यन्त श्रेष्ठ है । धर्मराजने अपने दूतोंसे कहा था—

धर्मन्तु साक्षाद् भगवत् प्रणीतं
न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः ।
न सिद्धमुख्या असुराः मनुष्याः
कुतो नु विद्याधरचारणादयः ॥

स्वयंभुर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः ।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः ।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥
(भा. ६।३।१९, २०, २१)

अर्थात् यह सत्य या सनातन धर्म साक्षात् भगवान द्वारा प्रकटित है । भृगु, वशिष्ठ आदि सत्त्वगुण प्रधान ऋषि लोग भी इसे निश्चित रूपसे नहीं जानते । देवता लोग भी नहीं जानते अथवा प्रधान प्रधान सिद्धगण, असुर लोग या मनुष्य लोग—कोई भी नहीं जानते ।

फिर विद्याधर और चारण आदि की तो बात ही क्या है ?

हे दूतगण ! स्वयम्भु, नारद, शम्भु, सनत्कुमार आदि चार भाई, देवहूतिके पुत्र कपिलदेव, स्वायम्भुव मनु, प्रह्लाद, भीष्म, जनक, बलि महाराज, शुकदेव और मैं—हम बारह व्यक्ति इस भागवत धर्मके बारेमें जानते हैं। यह धर्म अत्यन्त निर्मल, गुह्य और दुर्बोध है। इसको भली प्रकार जान लेनेपर जीव भगवानकी परमपद-प्राप्ति रूपी मुक्तिको अनायास ही प्राप्त कर लेता है।

प्रायेन वेद तदिदं न महाजनोऽयं
देव्या विमोहितमतिर्बत मायया नम्।
त्र्यक्षं जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः ॥

(भा. ६।३।२५)

भागवत-धर्मके तत्त्ववेत्ता इन बारह महाजनोंको छोड़कर याज्ञवल्क्य-जैमिनी आदि अन्यान्य धर्मशास्त्रोंकी सृष्टि करनेवाले व्यक्तियों की चित्तवृत्ति प्रायः ही दैवी माया द्वारा अत्यन्त विमोहित है। अतएव वे लोग नाम-संकीर्त्तनादिमय परम धर्मको जान न सके। उनका चित्त ऋक्, यजुः और साम—इन तीनों वेदों के अर्थवादादिके द्वारायुक्त मनोहर वाक्यों द्वारा जड़ीभूत है। अतएव वे लोग बहुत कष्टसाध्य दर्श, पौर्णमासी, चान्द्रायण-व्रत आदि अनित्य तुच्छ फल प्रदानकारी कर्म-विधानोंमें ही प्रवृत्त हुए हैं। सुखसाध्य, चतुर्वर्गको तुच्छ कर देने वाले परमार्थफल प्रदानकारी नाम-संकीर्त्तनादि भक्तिके अनुष्ठानोंमें प्रवृत्त नहीं हैं।

अतएव धर्म-नीति जागतिक-नीतिसे अत्यन्त श्रेष्ठ और परमार्थ प्रदानकारी है। पारमार्थिक धर्म ही एकमात्र हमारे लिए करणीय है। जड़ नीतिके आश्रयमें पारमार्थिक धर्मकी अवहेलना करने पर आत्मकल्याणसे वंचित होना पड़ेगा।

अतएव सम्राट कुलशेखर कहते हैं—

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैवकामोपभोगे ।
यद् भव्यं भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम् ॥
एतद् मम प्रार्थ्यं जन्मजन्मान्तरेऽपि ।
त्वद्पादांभोरुहा दृढा भक्तिरस्तु मे सदा त्वयि ॥

अर्थात् हे भगवान् ! मेरी धर्म (जागतिक धर्म) में निष्ठा नहीं है। न मैं सारे पृथ्वीका सम्राट् बनना चाहता हूँ और न नाना प्रकार के भोगोंका उपभोग करना चाहता हूँ। पूर्व-पूर्व जन्मोंमें मैंने जैसा कर्म किया है, वैसा ही फल मिलें। मैं आपके श्रीचरणोंमें यही प्रार्थना करता हूँ कि जन्म जन्मान्तरमें भी आपके श्रीचरणकमलोंमें मेरी निश्चला और ऐकान्तिकी भक्ति हो।

—त्रिदंडिस्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

कृपाकी कोर कीजै कृष्ण प्यारे

(गतांकसे आगे)

कृपाकी कोर कीजै कृष्ण प्यारे।
बसो कीरत-कुँवरि सङ्ग मन हमारे ।।

अहो व्रजभूमि प्रेयसि श्रीबिहारी
करी स्पर्श पद-रज, हो सुखारी।
झुकी भूमी लता लखि छवि मुरारी
भरीं आवेश गोपी सुधि बिसारे ।।२७।।
हुई अति छीन, मन कर दीन गोरीं
भ्रमी-भूली सघन व्रज वन किशोरी।
भरी रस रीतिमें अनजान भोरी
करी अनरीत माधव भये न्यारे ।।२८।।
कहाँ ढूँढ़े तुम्हें व्रजराज गिरिधर
कहाँ हो तुम नहीं महराज नटवर।
कहाँ चितचोर हो, नागर रसिकवर
छिपे बिन काज कौतुक लख हमारे ।।२९।।
कोई गोपिनी-दधि की भर कमोरी
ठगी सी बेचती दधि कान्ह गोरी।
सनी रस-रीति-प्रीति प्रतीत भोरी
हिये जिनके बसे जसुदा-दुलारे ।।३०।।
कोई बन पूतना, स्तन पिलावै
कोई बन श्याम, दधि-माखन चुरावै।
अघासुर मारि, कोई गिरिवर उठावै
कोई मुरली धरें, तन मन बिसारे ।।३१।।
कोई बन कान्ह, कालीको नचावै
कोई मग रोक, दधिको कर लगावै।
कोई ह्वै मानिनी, मोहन रिझावै
रचै रस-रास रमणी, रस-सहारे ।।३२।।

अलौकिक प्रेमका उन्माद उनमें
किये जिन छार लौकिक वाद छिनमें।
हुए इकतान तन-मान-प्राण जिनमें
भई सब कृष्णमय निजको बिसारे ।।३३।।
परम पावन सती थीं गोपिकायें
परस्पर प्रेम-पथकी थीं ध्वजायें।
न थीं सविशेष उनकी लालसाय
रसिक सिरमौर जिनके पद निहारे ।।३४।।
रसिक, रस-रीति की अवतार गोपीं
सकल आनन्द-सागर-धार गोपीं।
सलोने-स्याम-प्रिय आधार गोपीं
रसिक व्रज-राज जिनकीं माल धारे ।।३५।।
अलौकिक गोपिकायें कृष्ण प्यारीं
उन्हींके प्रेम-पावन की पुजारी।
सदा गोपाल सेवा कर सुखारी
न उनको एक पल तजते मुरारी ।।३६।।
उन्हींके प्रेमका परशाद पाकर
उन्हीं की प्रीति-गंगामें नहाकर।
हुए घनश्याम, सुन्दर ज्यों सुधाकर
लगो पद-प्रीति, रज मस्तक तुम्हारे ।।३७।।
उन्हींका ध्यान शिव-ब्रह्मा लगावैं
उन्हींके नाम शुक-सनकादि ध्यावैं।
उन्हें नारद सदा वीणामें गावैं
उन्हींके बस रहैं श्री नन्द-वारे ।।३८।।

उन्हींके प्रेम का आशीष पाकर
उठाया गिरि हरी नवनीत खाकर।
बढ़ाया चीर था उनके चुराकर
बने रक्षक, जनोंने जब पुकारे ॥३९॥
उन्हींके प्रेम-पावनके पुजारी
उन्हीके रागमें अनुरागकारी।
श्रीराधा-रमण राधाबिहारी
कहाये प्रेम-ऋणिया जग उजारे ॥४०॥
उन्हें प्रति श्वास मुरलीमें पुकारें
उन्हीं की नाम रट श्रीमुख उचारें।
उन्हींके रूप-रस निज हिये धारें
न पल-छिन हों गोपी-कृष्ण न्यारे ॥४१॥
श्री राधा, हा राधे! श्याम भाखें
उन्हींके नाम-रस नवनीत चाखें।
उन्हीं की रुचि सदा घनश्याम राखें
उन्हीं की नैन-गति पल-पल निहारें ॥४२॥
मुरलिका प्रेम की मध्यस्थ प्यारी,
न होती कान्ह से इक पलक न्यारी
इसी के बल बने गोपी बिहारी
रसिक श्रीगोपिका-वल्लभ मुरारे ॥४३॥
तुम्हीं हो गोपीके चित्त-बिहारी
तुम्हीं हो प्रेमानन्द पुञ्जकारी।
तुम्हीं हो प्रेम की प्रतिमूर्त्ति न्यारी
तुम्हीं राधा-रसिक राधा अधारे ॥४४॥
तुम्हारी प्रीति की इक लोक न्यारी
कै जानी गोपिका राधा दुलारी।
निबाही प्रेम की मर्याद सारी
बँधे हैं प्रेम-बन्धन लोक-सारे ॥४५॥
श्रीराधा की चरवा जान पावें
वहाँ घनश्याम प्यादे ही धावें
उन्हींके गुण-गान सुनकर अघावें
धनी त्रैलोक्यके राधा अधारे ॥४६॥
श्रीराधाके मुरलीधर कहावें
श्रीराधा सदा मुरलीमें गावें।
बिना राधा न पल छिन चैन पावें
श्रीराधा सों रति माने मुरारे ॥४ ॥
श्रीराधा हैं सम्पति श्याम केरी,
श्रीराधा हैं दम्पति श्याम केरी।
श्रीराधा हैं शोभा श्याम केरी
श्रीराधाके रस-बस श्याम प्यारे ॥४८॥
हे राधे! मान से मोहन डरावें
तुम्हारे मान की सुन बात धावें।
तुम्हें लखि माननो पद सिर नवावें
करें बलिहार निजको मुकुट वारे ॥४९॥
लखी ज्यों प्रीति-रस उद्धव सुनाई
सुनो माधव जदपि बरनी न जाई।
बढ़ी विरहा-अनल व्रजमें कन्हाई
भये व्यवहार उलटे कान्ह सारे ॥५०॥
सबैं व्रज मांहि इक नँद-नन्द जानै
तुम्हारे ब्रह्ममें अपवाद ठानै।
सकल श्रुति-वेद मर्यादा न मानै
करें माधुर्य लीला-गान प्यारे ॥५१॥
अगोचर ब्रह्म निर्गुण तुम कन्हाई
सकल ब्रह्माण्ड व्यापक तुम कन्हाई।
यहाँ हो एक व्रज घर-घर कन्हाई
तुम्हीं व्रज गोप-गोपी प्राण प्यारे ॥५२॥

(क्रमशः)

श्रीरामेश्वरप्रसाद सक्सेना

परतत्त्व-विचार

[कुछ वर्ष पूर्व परमाराध्यतम नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद १०८ श्रीश्रीमद् भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजीने यह भाषण श्रीधाम नवद्वीपमें प्रदान किया था। उसीका सारांश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है]

—सम्पादक

सभी दर्शन शास्त्रोंमें ही परतत्त्वकी आलोचना की गई है। तब यह विचारणीय है कि वास्तवमें परतत्त्व किन्हें माना जाय? इस विषयमें दार्शनिकोंका मत-वैषम्य आलोचना करने पर यह जाना जाता है कि परतत्त्वके विषयमें वेदान्त-दर्शनका तत्त्व-निर्देश ही सर्वोत्कृष्ट है। किन्तु दुःखकी बात यह है कि वेदान्त दर्शनके समालोचकोंमें भी मत-वैषम्य स्पष्ट वर्त्तमान है। हम अत्यन्त गौरवके साथ यह कह सकते हैं कि इस विषयमें श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासका विचार ही सर्वमान्य विचार है। भारतके विभिन्न दार्शनिकोंके विचार श्रीवेदव्यासजीके विचार द्वारा पराजित हुए हैं। अतएव हमारे देशके धार्मिक सम्प्रदायोंमें अन्य किसी दर्शनको ऐसी मान्यता प्राप्त नहीं है। फिर भी सांख्य, न्याय, पूर्व-मीमांसा, पातञ्जल, वैशेषिक आदि दार्शनिकोंके विचारोंकी कुछ थोड़ेसे व्यक्ति आलोचना करते रहते हैं। ये सभी विचार ही वेद-वेदान्त विरोधी हैं, अतएव इनके माननेवाले व्यक्ति श्रीवेदव्यासजीके भी विरोधी हैं। अतएव वे लोग पण्डित कहे जाने पर भी भारतीय वैदिक-धर्मके अनुकूल नहीं हैं। सांख्य और न्याय दर्शनोंमें विश्वके कार्य-कारण विचारमें वैदिक मतका खण्डन करनेमें कोई संकोच बोध नहीं किया गया है। साधारण युक्तिकी अपेक्षा लौकिक युक्ति श्रेष्ठ होने पर भी शास्त्रीय-युक्तिकी तुलनामें वह अकिञ्चित्कर है। साधारण-युक्ति के श्रेष्ठ उदाहरणोंके रूपमें चार्वाक आदि ऋषियोंके मतोंको लिया जा सकता है। उनके विचार, युक्ति आदि लौकिक-युक्तिके निकट ही पराजित हुई हैं, शास्त्रीय-युक्तिकी बात तो दूर रहे। साधारणतः हम लोग व्यावहारिक-ज्ञानकी बात कहा करते हैं। किन्तु इस व्यावहारिक-ज्ञानमें भी प्रचुर-तारतम्य या अवस्था-विशेष वर्त्तमान हैं। कानूनी व्यावहारिक-ज्ञान, सामाजिक व्यावहारिक-ज्ञान, प्राकृतिक व्यावहारिक-ज्ञान, साधारण दार्शनिक व्यावहारिक-ज्ञान आदि सभी प्रकारके व्यावहारिक-ज्ञानसे शास्त्रीय व्यावहारिक-ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। शास्त्रीय व्यावहारिक-ज्ञान या वैदिक-युक्तिमें प्रतिष्ठित न होनेसे हम लोग सर्वोत्तम विचार तक पहुँच नहीं पायेंगे। जो व्यक्ति जितने ही परिमाणमें शास्त्र-युक्तिके ऊपर प्रतिष्ठित हैं, वे उतना ही उन्नत विचार

जगतको प्रदान करनेमें समर्थ हुए हैं और वे उसी परिमाणमें भारतवासियोंके आदरके पात्र हुए हैं। कलिकी प्रबलताके कारण मनुष्योंकी चिन्ताधारा क्रमशः निम्नगामी होकर निम्न-चिन्तास्रोतका अधिक समादर देखे जानेपर भी वे विचार उन्नत विचारके सम्मुख मस्तक झुकानेके लिए बाध्य हैं। श्रेष्ठ वस्तुकी अल्पता होने पर भी अभाव या पराजय उसका नहीं है। निम्न-चिन्ताधाराके व्यक्ति लोग उन्नत चिन्ताका आदर करनेके लिए बाध्य हैं, यद्यपि वे लोग उसे ग्रहण करनेमें असमर्थ क्यों न हों।

परतत्त्वकी आलोचना-भूमिकामें भी चिन्ता-स्रोतका तारतम्य वर्त्तमान रहनेके कारण पर-तत्त्वका तारतम्य विचार देखा जाता है। यहाँ इस बातको सावधानीसे समझना चाहिए कि चिन्तास्रोतके तारतम्यके कारण परतत्त्वका तारतम्य माननेसे परतत्त्वका भेद स्वीकृत नहीं होता। वस्तु केवल एक ही है, किन्तु प्रतीति-गत विषमताके कारण उसकी विभिन्नता प्रकाशित होती है। यदि कोई हाथीके पृष्ठदेशका दर्शन कर हाथीके पूँछ और पाँवोंको स्वीकार करते हुए उसकी अनुभूति प्रकाश करें, अथवा कोई हाथीके सम्मुखस्थ शुण्ड-कान-नेत्र आदि दर्शन कर उसकी अनुभूति प्रकाश करें या और कोई एक तरफ दर्शन कर शुण्ड-कान-पूँछ आदि रहित विशाल गण्डारके रूपमें हाथीका दर्शन करें, तो हाथी तीन प्रकारका नहीं हुआ। परन्तु उन-उन व्यक्तियोंने अपनी अभिज्ञताको अपनी-अपनी धारणानुसार व्यक्त किया है—यही जानना चाहिए। अतएव वेदान्त-भाष्य श्रीमद्भागवतमें स्वयं व्यासदेवजीने एक श्लोक द्वारा विभिन्न चिन्तास्रोतके व्यक्तियोंके विचारों का तारतम्य दिखलाया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानीति शब्द्यते॥

आचार्यकुल-मुकुटमणि श्रीश्रील जीव गोस्वामीपादने इस श्लोकका तात्पर्य ४ ग्रन्थों में प्रकाशित किया है। आप लोग इन चारों ग्रन्थोंकी आलोचना कर इस श्लोकका तात्पर्य जाननेकी चेष्टा करेंगे। संक्षेपमें इसके बारेमें दो एक बातें बतला रहा हूँ।

उक्त श्लोकमें 'यज्ज्ञानमद्वयम्' एक शब्द है। उसमें वास्तव वस्तुको 'अद्वयज्ञान' स्वरूप बतलाया है। यहाँ 'अद्वय' कहनेसे प्राकृत भेद-राहित्यको समझना चाहिए। प्राकृत भेद कहने से माया या अविद्या-कल्पित भेदको ही कहा जाता है। अद्वय-वस्तुमें मायिक या अविद्यागत भेद कदापि संभव नहीं है। द्वितीय वस्तुको अङ्गीकार न करनेके कारण जो अद्वयत्व स्वीकृत हुआ है, वह वास्तव-द्वितीय-रहित नहीं है, बल्कि प्राकृत स्थूल या जड़ द्वितीय-रहित है। ऐसा न होनेसे परम-दार्शनिक मनीषियोंकी चिन्ताके तारतम्यकी सार्थकता न रह जाती। तत्त्ववस्तु पूर्ण होनेके कारण ही पूर्ण-अंशका अस्तित्व उसमें स्वीकार किया जाता है। मायातीत अंश पूर्णके समान अथवा

पूर्णकी अभिव्यक्ति या पूर्णकी द्वितीय-मूर्त्ति है। अतएव तत्त्ववस्तुके अंश-तत्त्वको भी पूर्ण ही मानना उचित है। अतएव वैदिक या औपनिषदिक युक्तिका कहना है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

इस वैदिक-युक्तिको न माननेसे मनुष्य नास्तिक कहलाने योग्य है। लौकिक-युक्ति यहाँ पराजित हुई है। 'पूर्ण' एक वस्तु है, उसे ही तत्त्व कहा जाता है। इस 'पूर्ण' से 'पूर्ण' को ग्रहण करने पर अवशिष्ट कुछ भी नहीं रहेगा—ऐसी बात नहीं है। अवशिष्ट भी 'पूर्ण' ही रहता है। यहाँ यह बात जानने योग्य है कि 'पूर्ण' से 'पूर्ण' को कौन ग्रहण कर सकता है? 'पूर्ण' से जो 'पूर्ण' ग्रहण करते हैं, वे भी 'पूर्ण' ही हैं। जो 'पूर्ण' से 'पूर्ण' को ग्रहण करते हैं, वे 'पूर्ण' ही अवशिष्ट रखते हैं। इसे शून्यवादी भी सहज ही समझ सकते हैं। प्राकृत वैज्ञानिक गणित शास्त्री लोग भी शून्यसे शून्य घटाकर शून्य ही बाकी रखते हैं। शून्यवादी गणितज्ञोंकी यदि ऐसी योग्यता है, तो पूर्णवादी पूर्णपुरुष भगवानके लिए भी यह कदापि असम्भव विषय नहीं है। उदाहरणके लिए एक दीपकसे बहुतसे दीपकोंको जलानेपर भी मूल-दीपककी किसी प्रकारसे कोई हानि नहीं होती तथा प्रज्ज्वलित दीपकसमूह भी मूल-दीपकसे किसी अंशमें न्यूनता नहीं प्राप्त करता। अतएव प्रज्वलित दीपकसमूह अंश हो तो पूर्ण एक है। इसीलिए परतत्त्व सर्वदा एक ही है और अद्वय या द्वितीय-रहित है। दर्शकों की योग्यतासे एकत्वको अक्षुण्ण रखते हुए तारतम्यका प्रकाश मात्र करता है।

परतत्त्वकी प्रथम प्रतीति—ब्रह्म

किसी-किसी दार्शनिकने परतत्त्वको निःशक्तिक समझकर उसे 'ब्रह्म' कहा है। 'ब्रह्म' परतत्त्वकी निर्गुण-निर्विशेष-निःशक्तिक अवस्था है। यह अवस्था वास्तविक नहीं है, बल्कि काल्पनिक है। वस्तुतः ब्रह्मवस्तुको वेद-उपनिषद् या वेदान्त-दर्शनमें निःशक्तिक मात्र या निर्गुण-निर्विशेष नहीं माना गया है। उपनिषदोंमें कहीं-कहीं ऐसी वर्णना देखी जाती है, किन्तु वह केवल पूर्वपक्ष या प्रश्न-स्वरूपसे ही कही गई है। वह शास्त्रकी व्यतिरेक उक्ति है। वास्तव वस्तु ही वस्तु है, अवास्तव वस्तु वस्तु कहलाने योग्य नहीं है। वस्तु के काल्पनिक अधिकरणमें सत्ताहीनता ही प्रकाशित होती है। प्राकृत भाषागत दोष वस्तु-विकासमें रुकावट उत्पन्न करता है। किन्तु प्राकृत भूमिकामें हम लोग इस दोषसे बच नहीं सकते। अतएव आप लोगोंसे मेरा निवेदन है कि इस विषयमें आप लोग अनुभूति प्राप्त करें। जो वस्तु अनुभव-सिद्ध है, वह कई स्थानोंमें भाषा-सिद्ध नहीं है अर्थात् उसे भाषा द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते। भाव और भाषा में पार्थक्य अवश्य ही रहेगा। भाषा सर्वदा ही

असम्पूर्ण है। भाषाको भावकी अभिव्यक्ति कहनेपर भी वह उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है। चीनी और मिश्रीके माधुर्यमें जो पार्थक्य है, उसे भाषा द्वारा समझा नहीं जा सकता। उन दोनोंका आस्वादन कराकर समझाना पड़ेगा या आस्वादन करनेपर समझा जा सकता है। अतएव परतत्त्व वस्तु अनुभवसिद्ध वस्तु होनेके कारण भाषा और परिभाषा द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती। तथापि भाषाकी आंशिक अभिव्यक्ति करनेके लिए शक्तिहीनता स्वीकार नहीं की जाती। परतत्त्वको ब्रह्म कहनेसे एक प्रतीतिगत व्यतिरेक सत्ता की अनुभूति की जा सकती है, किन्तु वह परतत्त्व नहीं है। ज्ञानियों की प्रतीति या अनुभूति निःशक्तिक वस्तु तक ही सीमित है।

वेदान्त-दर्शनमें ब्रह्मतत्त्वकी जिज्ञासा रहने पर भी उस तत्त्वको निर्विशेष, निःशक्तिक नहीं कहा गया है। श्रीमद् वेदव्यासजीने शक्तिमान ब्रह्मका ही विचार किया है, जिसकी शक्तिके प्रभावसे सृष्टि, स्थिति और प्रलयादि होते हैं। जिस तत्त्वको परतत्त्व ब्रह्म कहा जाय, वह ब्रह्म शक्तिमान ब्रह्म या सक्षम ब्रह्म है। अद्वैतवादियोंका ब्रह्म निःशक्तिक ब्रह्म या अक्षम ब्रह्म है। शक्तिहीन अक्षम ब्रह्मकी उपासना द्वारा किस प्रकार जीवोंका कल्याण हो सकता है? वेदान्त-दर्शनके द्वितीय सूत्र द्वारा ही अक्षम ब्रह्मकी परात्परता अस्वीकार की गई है। 'जन्माद्यस्य यतः'—इस सूत्र द्वारा सक्षमता स्पष्ट है; नैयायिक और सांख्यवादियों के कार्य-कारणवाद द्वारा अक्षम ब्रह्मकी निरर्थकता प्रचुर परिमाणमें प्रकाशित हुई है। शास्त्रयुक्तिकी प्रबलता और यथार्थतासे आचार्य श्रीशंकर भी यह स्वीकार करनेके लिए बाध्य हुए हैं।

परतत्त्व की द्वितीय प्रतीति—परमात्मा

दूसरे किसी-किसी दार्शनिकने परतत्त्वको पूर्ण निःशक्तिक नहीं माना है। ऐसे विद्वानोंने और थोड़ासा आगे बढ़कर सशक्तिक रूपमें परतत्त्वको परमात्मा माना है। हम लोग निःशक्तिक तत्त्वकी अपेक्षा सशक्तिक तत्त्वका श्रेष्ठत्व उपलब्धि कर सकते हैं। सशक्तिक तत्त्ववादियोंने परमात्माको माया-शक्तिमानके रूपमें माना है। सांख्य और पातञ्जल-दर्शनके योगियोंमें यह विचार बहुत ही स्पष्ट रूपमें देखा जाता है। अतएव हम लोग ज्ञानियोंकी अपेक्षा योगियोंको अधिक महत्व दिया करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा गया है—

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥"
(गीता ६।४६)

उक्त श्लोकमें तपस्वी, कर्मी, ज्ञानी—इन तीनोंकी अपेक्षा योगियोंको श्रेष्ठ कहा गया है। गीतामें इस श्लोकके अगले श्लोकमें कहा गया है—योगियोंमें भी जो भगवत्परायण हैं,

वे ही सर्वश्रेष्ठ हैं। सभी प्रकारके साधकोंमें से ऐसी व्यक्तियोंकी प्रधानता है। निःशक्तिक चिन्ताकी अपेक्षा सविशेष-सशक्तिक चिन्ताकी प्रधानता गीतासे हम लोग जान सकते हैं। परतत्त्वको एकमात्र शक्तिमत्-तत्त्व या केवल-मात्र मायाशक्तिमत्-तत्त्वके रूपमें विचार करने पर वह सर्वशक्तिमत्-तत्त्वसे कुछ पृथक् जान पड़ता है। खैर, जैसा भी क्यों न हो, ब्रह्मतत्त्व की चिन्ता करनेवाले व्यक्तियोंकी अपेक्षा पर-मात्म-तत्त्वकी चिन्ता करनेवाले व्यक्ति श्रेष्ठ हैं, इस विषयमें कोई भी सन्देह नहीं है। इसके प्रमाणमें हमें शास्त्रयुक्ति प्रचुर परिमाणमें मिलती है।

माया-शक्तिमान् परमात्म-तत्त्व ही सम्पूर्ण विश्वके कारण हैं। अविद्या या माया-शक्ति-मत्तत्त्वको विश्वके जनयिता स्वीकार न करने से इस विश्वका प्राकृतत्त्व सम्भव नहीं है। शुद्ध दार्शनिक लोग प्राकृत वस्तुका मिथ्यात्व स्वीकार नहीं करते। मेधासम्पन्न व्यक्ति द्वारा प्राकृत-मिथ्यात्वका तारतम्य प्रचुर परिमाण द्वारा व्याख्या की जानेपर भी उसका आत्यन्तिक मिथ्यात्व स्वीकार करने पर जीव चार्वाककी तरह नास्तिक हो पड़ेंगे। हम लोग निःशक्तिक ब्रह्मकी अपेक्षा अन्ततः एक ही मात्र शक्तिम-त्तत्त्व परमात्माको श्रेष्ठ कहनेमें आपत्ति नहीं करते। तब एक ही मात्र शक्तिको स्वीकार करनेसे प्राकृत-शक्तिका ही विचार होता है; अतएव अप्राकृत-तत्त्वकी पूर्णरूपसे अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। केवलमात्र अप्राकृत शक्तिके द्वारा स्वीकृत होनेके कारण इसका कुछ परि-माणमें हम लोग आदर करते हैं।

एक शक्तिमत्तत्त्वकी अपेक्षा बहु-शक्तिम-त्तत्त्वका वैशिष्ट्य बहुत अधिक है। बहु-शक्ति-मत्तत्त्वकी अपेक्षा अनन्तकोटि शक्तिमत्तत्त्वका वैशिष्ट्य और भी अधिक है। सबकी अपेक्षा सर्व शक्तिमत्-तत्त्वका श्रेष्ठत्व उपलब्धि करने में हमें बिन्दुमात्र भी क्लेश नहीं जान पड़ता। भगवानकी अनन्तशक्तिमत्ता या सर्वशक्ति-मत्ता सभी शास्त्रोंमें ही प्रचुर रूपसे वर्णित है। सर्वशक्तिमत्ताके प्रभावसे स्वयं भगवान बहुत प्रकारकी विरुद्ध-जातीय क्रियाएँ या लीलाएँ किया करते हैं। माया शक्तिमान भगवानकी बात शास्त्रमें बहुत देखी जाती है। किन्तु माया-शक्ति कहनेसे प्राकृत-शक्तिविशिष्ट या जड़-शक्तिविशिष्ट समझने पर भी और एक चेतन-शक्तिकी बात देखी जाती है। 'माया' शब्द द्वारा महामाया और योगमाया—दोनोंको ही समझना चाहिए। जब इस योगमाया-शक्ति-मान् पुरुषकी बात विचारकी जाती है, तब ही वे (भगवान) बहु शक्तिमान या सर्वशक्ति-मान हैं। योगमाया-शक्ति अघटन-घटन-पटी-यसी-क्रिया-विशिष्टा हैं। अतएव भगवान माया के अधीश्वर हैं, मायाके अधीन नहीं। निःश-क्तिकवादियोंने ब्रह्मको मायाकी अधीनतामें लाकर काल्पनिक ईश्वरकी सृष्टि की है। इस श्रेणीके ईश्वरको युक्तिके लिए मायाके अधीन

स्वीकार कर लेने पर भी सशक्तिक ईश्वर-वादियोंने मायाशक्तिके अधीश्वर रूपसे जिस ईश्वर पर पूर्ण-विश्वास प्रकट किया है, वे सर्वोन्नत हैं। ईश्वरकी ऐसी अवस्था स्वीकार न करनेसे ईश्वर की ईशिता नहीं रहती, परन्तु वे केवल वश्य-तत्त्व बन जाते हैं। ईश्वरको मायावश्य कहनेसे उनके प्रति महान् अपराध करना हुआ—उन्हें हीन समझना हुआ। हम लोग 'भगवान मायावश्य हैं'—ऐसी उक्ति सुनकर बहुत वेदनाका अनुभव करते हैं। अत-एव हम लोग युक्तिके लिए कह सकते हैं—यदि ईश्वर मायावश्य हैं, तो उन्हें भी बाध्य होकर साधन करना पड़ेगा; नहीं तो उनकी माया-वश्यता कैसे दूर होगी ? जीवकी माया-वश्यताको दूर करनेके लिए ज्ञानसाधनकी आवश्यकता है; इसी प्रकार ईश्वरको अपनी मायावश्यता दूर करनेके लिए ज्ञानसाधनकी आवश्यकता है—ऐसा कहना होगा। भारतके शुद्ध आस्तिक सम्प्रदायके व्यक्ति ईश्वरके लिए ऐसा साधन कदापि स्वीकार नहीं करते।

(क्रमशः)

प्रभु, मोहीं काहैं बिसरायो

ऐसे प्रभु अनाथ के स्वामी।
दीनदयाल प्रेम परिपूरन, सब घट अन्तरजामी।
करत विवस्त्र द्रुपद-तनया कौं, सरन शब्द कहि आयो।
पूजि अनन्त कोटि बसननि हरि, अरि कौ गर्व गँवायौ॥
सुति हित विप्र, कीर हित गनिका, नाम लेत प्रभु पायौ।
छिनक भजन, संगति प्रताप तैं, गज और ग्राह छुड़ायौ॥
नर-तन, सिंह-बदन वपु कीन्हौ, जन लगि भेष बनायौ।
निज-जन दुखी जानि भय तैं अति, रिपु हति सुख उपजायौ॥
तुम्हरी कृपा गुपाल गुसाईं, किहिं-किहिं स्रम न गँवायौ।
सूरजदास अन्ध, अपराधी, सो काहैं बिसरायौ॥